दैनिक जागरण
परोपकार से ही कल्याण संभव है

मोदी पर जनमत संग्रह सरीखा चुनाव

प्रदीप सिंह

विपक्ष के न चाहने पर भी लोकसभा का यह चुनाव राष्ट्रपति प्रणाली वाले चुनाव जैसा हो गया है

हर चुनाव में कई मुद्दे होते हैं। कुछ नए और कुछ पुराने। पार्टियों को लगता है कि मतदाता उनके मुद्दों और उनकी बात पर भरोसा करेगा और उसी के मुताबिक वोट करेगा। नरेंद्र मोदी से पहले देश में 13 प्रधानमंत्री (गुलजारी लाल नंदा को छोड़कर) हुए हैं, लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई प्रधानमंत्री खुद ही चुनाव का मुद्दा बन जाए। इससे पहले प्रधानमंत्री पद पर बैठने वाले नेता के राजनीतिक विरोधी तो रहे पर नफरत करने वाले नहीं। यह भी पहली बार हो रहा है कि मोदी के विरोध में खड़े ज्यादातर लोग उनसे नफरत करते हैं। इसलिए यह चुनाव नफरत बनाम प्रेम का हो गया है। मोदी से प्रेम करने वाले एक तरफ और नफरत करने वाले दूसरी तरफ। आपातकाल के बाद 1977 के चुनाव में इंदिरा गांधी भी इस तरह मुद्दा नहीं बनी थीं। उस समय आपातकाल की ज्यादतियां और नसबंदी प्रमुख मुद्दे थे। इस लोकसभा चुनाव में यों तो बहुत से मुद्दे हैं, सत्तारूढ़ दल और विपक्ष की तरफ से भी, लेकिन विपक्ष के न चाहने पर भी यह चुनाव राष्ट्रपति प्रणाली जैसा हो गया है। दरअसल यह चुनाव से ज्यादा मोदी पर जनमत संग्रह जैसा हो गया है। 1971 के बाद डा. मनमोहन सिंह अकेले ऐसे प्रधानमंत्री हुए जिन्होंने लगातार पांच साल के दो कार्यकाल पूरे किए, पर उन्हें भी दोनों बार पूर्ण बहुमत नहीं मिला। 1984 के बाद पहली बार पूर्ण बहुमत वाली कोई सरकार और प्रधानमंत्री फिर से जनादेश मांग रहा है।

1984 के बाद यह भी पहली बार हो रहा है कि सत्तारूढ़ दल के समर्थक पार्टी के लोकसभा उम्मीदवारों की ओर देख ही नहीं रहे हैं। वोट न तो पार्टी के नाम पर पड़ रहा है और न ही उम्मीदवार के नाम पर। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है कि 'नाते सकल राम ते मनियत।' वह एकनिष्ठ भक्ति के कायल थे। मोदी के साथ भी इस चुनाव में कुछ ऐसा ही हो रहा है। वोट मोदी को जिताने के लिए पड़ रहा है या हराने के लिए। दरअसल मोदी ने जाति की राजनीति करने वाली पार्टियों के सामने मुश्किल खड़ी कर दी है। पांच साल में केंद्र सरकार की योजनाओं के जरिये उन्होंने जातियों को वर्ग में तब्दील कर दिया है। जब प्रधानमंत्री कहते हैं कि उनकी जाति गरीब है तो वे इसी वर्ग को संबोधित कर रहे होते हैं। जाति और इस नए वर्ग की की राजनीतिक जंग की असली और सबसे कठिन परीक्षा उत्तर प्रदेश में हो रही है। एक तरफ तीन दलों बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी एवं राष्ट्रीय लोकदल का गठबंधन और दूसरी तरफ भाजपा। कांग्रेस कहीं-कहीं लड़ाई को त्रिकोणीय बना रही है। गठबंधन को अपने अंकगणित पर भरोसा है। वह मानकर चल रहा है कि यह अंकगणित केमिस्ट्री में बदलेगा ही। सपा और कांग्रेस दो साल पहले यही गलती कर चुके हैं। प्रधानमंत्री की जाति पर मायावती जिस कदर हमलावर हैं उससे लग रहा है कि सपा-बसपा के वोट दूसरे के उम्मीदवारों को पूरी तरह ट्रांसफर नहीं हो रहे हैं। आजमगढ़ में मायावती को दलितों से यह अपील करनी पड़ी कि यह समझो कि अखिलेश नहीं, मैं चुनाव लड़ रही हूं। मायावती प्रधानमंत्री पर जिस तरह से निजी हमले कर रही हैं उससे ऐसा लग रहा है कि उनका दलित (अब तो केवल जाटव बचा है) वोट भी खिसक रहा है। इस बात की संभावना बढ़ रही है कि यह मिथ टूट जाए कि मायावती अपना सौ फीसदी वोट सहयोगी दल को ट्रांसफर करा सकती हैं।

मोदी ने पांच साल में जाति धर्म से हटकर एक वर्ग तैयार किया है। इसे नई अस्मिता की राजनीति कहें, केंद्रीय योजनाओं का लाभार्थी वर्ग कहें, विकास के साथ खड़ा होने वाला वर्ग कहें या कुछ और नाम दें, लेकिन इस वर्ग को मोदी पर भरोसा भी है और उम्मीद भी। इस वर्ग का यही भरोसा मोदी की सबसे बड़ी ताकत है। यह वर्ग इस बात से कतई प्रभावित होने को तैयार नहीं है कि उसका सांसद कैसा था या कैसा होगा? वह देख रहा है कि उसका वोट मोदी को फिर से प्रधानमंत्री बनाएगा। मोदी को वोट देने के साथ ही वह यह भी कहता है कि विधानसभा चुनाव में दूसरी पार्टियों और उम्मीदवारों को देखेंगे, लेकिन अभी मोदी के अलावा वह किसी के बारे में सोचने को तैयार नहीं है। इस वर्ग में हर जाति के लोग हैं। मुस्लिम महिलाओं का एक तबका भी इसमें शामिल है।

इन दिनों अमेरिका की टाइम पत्रिका की आवरण कथा की चर्चा हो रही है। इस आवरण कथा में मोदी को विभाजनकारी बताया गया है। भारत में मोदी विरोधियों ने इसे हाथों हाथ लिया। एक बार तो ऐसा लगा कि चुनाव नतीजे की घोषणा हो गई है, जबकि उसमें ऐसा कुछ नहीं लिखा है जो भारत में मोदी विरोधियों ने एक बार नहीं कई कई बार न लिखा हो। उसी पत्रिका में मोदी की आर्थिक नीतियों की सराहना करते हुए एक लेख छपा है, लेकिन इस लेख को उल्लेख योग्य नहीं माना गया। इससे यह पुनः रेखांकित होता है कि देश में मोदी की आलोचना या विरोध करने वाले नहीं, नफरत करने वाले हैं। अगर ये विरोधी होते तो आलोचना और प्रशंसा, दोनों मुद्दों पर चर्चा करते। बुद्धिजीवियों और राजनीतिक दलों का यह व्यवहार वास्तव में मोदी का नुकसान करने के बजाय फायदा ही पहुंचाता है। प्रधानमंत्री ने गलत नहीं कहा कि उनकी छवि लुटियंस दिल्ली या खान मार्केट गैंग के कारण नहीं 45 साल की तपस्या से बनी है। यही कारण है कि जनता को लगता है कि यह आदमी जरूर कुछ अच्छा काम कर रहा है जिससे कुछ लोग परेशान हैं। मोदी को देश का मतदाता विभाजनकारी मानता है या नहीं, यह तो 23 मई को पता चलेगा, लेकिन एक बात तो माननी पड़ेगी कि मोदी ने पिछले पांच साल में अपने सारे विरोधियों को मंदिर का रास्ता दिखा दिया है। पता नहीं कितने नेताओं को शिव भक्त बना दिया है। नेताओं में यह बताने की होड़ सी लगी है कि कौन बड़ा हिंदू है। एक और बात पहली बार हो रही है। चुनाव का आखिरी चरण ही बचा है, लेकिन अभी तक धर्मनिरपेक्ष शब्द सुनाई तक नहीं दिया। उनके मुंह से भी नहीं जो हर चुनाव में धर्मनिरपेक्षता की रक्षा के लिए चुनाव मैदान में उतरने का दावा करते थे। राहुल गांधी अपनी सारी उम्र में जितनी बार मंदिर गए होंगे उससे कई गुना ज्यादा बार वह पिछले डेढ़ साल में जा चुके हैं और तो और ओसामा लादेन को ओसामा जी कहने वाले दिग्विजय सिंह भी चुनाव जीतने के लिए भगवा वस्त्र धारण करने के अलावा सब कुछ कर चुके हैं।

इस चुनाव के नतीजे कई मिथक तोड़ेंगे और कई नए बनाएंगे भी। चुनाव में मोदी की जीत से यह भी तय होगा कि विकास का काम करके भी चुनाव जीता जा सकता है। यह भी कि भारतीय मतदाता जाति के खांचे से निकलने को तैयार नहीं है। आपातकाल के बाद की राजनीति में किसी नेता के प्रति इस तरह की आसक्ति नहीं दिखी।

(लेखक राजनीतिक विश्लेषक एवं वरिष्ठ स्तंभकार हैं)

response@jagran.com

अवधेश राजपूत

बंगाल में उत्पात

कोलकाता में भाजपा अध्यक्ष अमित शाह के रोड शो के दौरान जिस तरह बड़े पैमाने पर हिंसा हुई उससे पश्चिम बंगाल सरकार की देश भर में बदनामी ही हो रही है। आखिर क्या कारण है कि एक अकेले राज्य पश्चिम बंगाल में उतनी चुनावी हिंसा हुई जितनी शेष देश में भी नहीं हुई? पश्चिम बंगाल में केवल विरोधी दलों और खासकर भाजपा की सभाओं को ही निशाना नहीं बनाया जा रहा है, बल्कि उसके कार्यकर्ताओं और नेताओं पर भी हमले हो रहे हैं। भाजपा नेताओं की रैलियों में छल-बल से खलल डालने के साथ ही उन लोगों को डराने-धमकाने का काम भी बड़े पैमाने हो रहा है जिन्हें भाजपा का वोटर माना जा रहा है। इस बात को मानने के अच्छे-भले कारण हैं कि यह काम बिना किसी रोक-टोक इसीलिए हो रहा है, क्योंकि तृणमूल कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को शासन-प्रशासन की शह मिली हुई है। खुद ममता बनर्जी के बयान यह साबित करने के लिए पर्याप्त हैं कि वह लोकतांत्रिक तौर-तरीकों की तनिक भी परवाह नहीं कर रही हैं। वह भाजपा अध्यक्ष के रोड शो में हुई हिंसा को आंदोलन का नाम देकर एक तरह से हिंसक तत्वों को बल ही प्रदान कर रही हैं। चुनावी हिंसा के मामले में पश्चिम बंगाल की जैसी खराब छवि निर्मित हो गई है उससे ममता सरकार न सही, राज्य के प्रशासन को तो लज्जित होना ही चाहिए। क्या कोई बताएगा कि इस राज्य में अभी तक हुए मतदान के छह चरणों में से कोई भी चुनावी हिंसा से अछूता क्यों नहीं रह सका? निःसंदेह कुछ अन्य राज्यों में भी पुलिस और नौकरशाही का राजनीतिकरण हुआ है, लेकिन पश्चिम बंगाल का प्रशासन तो सारी हदें पार करता दिख रहा है। ऐसा लगता है कि पुलिस और प्रशासन के लोगों को तृणमूल कांग्रेस के कार्यकर्ताओं की तरह व्यवहार करने में कोई हर्ज नहीं।

निर्वाचन आयोग ने पश्चिम बंगाल में चुनाव प्रचार में कटौती करने का फैसला करके राज्य सरकार के साथ-साथ उसके प्रशासन की नाकामी पर मुहर ही लगाई है। अच्छा होता कि निर्वाचन आयोग पहले ही सख्त फैसला लेता। कायदे से इस राज्य के शीर्ष अधिकारियों के खिलाफ मतदान के पहले और दूसरे चरण के बाद ही सख्त कार्रवाई करनी चाहिए थी। निर्वाचन आयोग की ताजा कार्रवाई के बाद ममता बनर्जी आपे से बाहर हो सकती हैं, लेकिन बेहतर होगा कि वह इस पर विचार करें कि केवल पश्चिम बंगाल में ही इतनी चुनावी हिंसा क्यों हो रही है? जब ममता बनर्जी ने परिवर्तन का नारा देकर सत्ता संभाली थी तो यह लगा था कि वह सचमुच कुछ तब्दीली लाएंगी, लेकिन अपने मनमाने शासन से उन्होंने प्रदेश के साथ देश को भी निराश करने का काम किया है। यह हैरानी की बात है कि वाम दलों के कुशासन और उनकी अराजकता का सामना करने वालीं ममता बनर्जी उन्हीं के रास्ते पर चल रही हैं। दरअसल इसी कारण राज्य में वैसी ही चुनावी हिंसा देखने को मिल रही है जैसी वाम दलों के शासन के समय दिखती थी। यह एक विडंबना ही है कि लोकतांत्रिक मूल्यों और मान्यताओं को ठेंगा दिखा रहीं ममता बनर्जी खुद को प्रधानमंत्री पद का दावेदार साबित कर रही हैं।

जंगल की आग

मौसम के साथ देने से उत्तराखंड में जंगलों की आग से परेशान वन महकमे को कुछ सुकून मिला है, लेकिन सवाल यह उठता है कि आखिर ऐसा कब तक चलेगा। कब तक हम आग बुझाने के लिए झांपे (हरी टहनियों को तोड़कर बनाया जाने वाला झाड़ू) पर निर्भर रहेंगे। वह भी यह जानते हुए कि जंगल की आग से हर साल जूझना है और हर तीसरे व चौथे साल आग विकराल रूप धारण करती है। साफ है कि इससे निपटने के लिए ठोस एवं प्रभावी मैकेनिज्म तैयार करना समय की मांग है और इसी मोर्चे पर अब तक गंभीरता से सोचने की जरूरत नहीं समझी गई। परिणामस्वरूप प्रतिवर्ष फायर सीजन (15 फरवरी से मानसून आने तक) में बड़े पैमाने पर वन संपदा आग की भेंट चढ़ रही है। इस वर्ष की ही बात करें तो फायर सीजन शुरू होने पर महकमे ने पूरी तैयारी का दावा किया था। हालांकि, फरवरी से लेकर अप्रैल तक मौसम ने भी साथ दिया और नियमित अंतराल में होने वाली बारिश के चलते आग की घटनाएं कम हुई। 15 फरवरी से 30 अप्रैल तक की अवधि में राज्य में आग की सिर्फ 88 घटनाएं हुई थीं। इसके बाद एक मई से पारे ने उछाल भरी तो दो हफ्ते के भीतर ही जंगल की आग की घटनाओं की संख्या बढ़कर 827 पहुंच गई, जिनमें 1051 हेक्टेयर जंगल झुलस चुका है। शुक्र यह कि मंगलवार को मौसम ने करवट बदली और प्रदेश के अनेक स्थानों पर बारिश हो गई। इससे जंगलों में लगी आग पर भी काफी हद तक काबू पा लिया गया। हालांकि, इससे पहले झांपे से जंगलों की आग बुझाने के लिए वनकर्मियों को खासा पसीना बहाना पड़ रहा था। अच्छी बात यह है कि इस मर्तबा विभिन्न क्षेत्रों में ग्रामीण आग बुझाने में सक्रिय सहयोग दे रहे हैं। फिलवक्त जंगल की आग के मद्देनजर स्थिति भले ही नियंत्रण में हो, मगर महकमे को इससे सबक लेने की जरूरत है। आग पर नियंत्रण के लिए ठोस एवं प्रभावी रणनीति के साथ कदम उठाने होंगे तो भविष्य के लिए भी बदली परिस्थितियों के हिसाब से रणनीति अख्तियार करनी होगी। इसमें झांपे से ऊपर उठकर संसाधनों पर खास ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है।

झूठ की ताकत का प्रदर्शन

प्रो. मक्खन लाल

जब झूठ बड़ा हो तो औसत इंसान सोचने पर मजबूर हो जाता है कि कैसे कोई इतना खुलकर बोलने का साहस कर सकता हैं?

यह मेरा सौभाग्य है कि मैं 1967 से ही चुनावों को करीब से देख रहा हूं। पहले आम चुनावों में एक-दूसरे की आलोचनाओं के साथ ही साथ हास-परिहास भी देखने को मिलता था। व्यक्तिगत लांछन और गालियां न देकर पार्टियों की नीतियों, उनके कार्यकलापों आदि पर ज्यादा बहस और चर्चा होती थी। करीब-करीब सभी को इसका ख्याल रहता था कि कहीं कोई ऐसी बात न निकल जाए जो बाद में झूठी साबित हो या किसी पर व्यक्तिगत आक्षेप मानी जाए। पहली बार व्यक्तिगत स्तर पर और वह भी काफी जोर-शोर से राजीव गांधी पर लांछन लगा। यह बोफोर्स तोप सौदे में दलाली को लेकर था। ये आक्षेप विपक्षी नेता ने नहीं राजीव गांधी के करीबी और उनके मंत्रिमंडल में रक्षा एवं वित्त मंत्री रहे विश्वनाथ प्रताप सिंह ने लगाए थे। चूंकि विश्वनाथ प्रताप सिंह उन दोनों मंत्रालयों से संबंधित थे जिनका लेना-देना बोफोर्स तोप सौदे से था इसलिए इसके चलते जनता को विश्वास करने में आसानी हुई। इसके बाद लांछन लगाने होड़ ही चल पड़ी। हाल में राफेल सौदे को लेकर उच्चतम न्यायालय में राहुल गांधी की फजीहत सबने देखी। यह फजीहत इसलिए हुई, क्योंकि राहुल ने अपने बड़े झूठ में देश की सबसे बड़ी अदालत को भी शामिल कर लिया था। यह अच्छा हुआ कि उच्चतम न्यायलय ने राहुल से स्पष्टीकरण लेना जरूरी समझा। अगर वह ऐसा नहीं करता तो देश की जनता यही मानती कि जरूर मोदी ने कुछ लेन-देन किया है।

एडोल्फ हिटलर ने अपनी पुस्तक 'मीन काम्फ' में लिखा है, छोटे झूठ की तुलना में बड़े झूठ से जनसमुदाय को आसानी से अपना शिकार बनाया जा सकता है। हिटलर इस काम में उस्ताद था। वह झूठ का मास्टर था। उसने कहा था, बड़े झूठ में विश्सनीयता का जोर होता है, क्योंकि जनसमुदाय अपनी भावनाओं की प्रकृति के कारण आसानी से प्रभावित हो जाता है। स्वाभाविक भोलेपन के कारण लोग बड़े झूठ का शिकार बनने के लिए खुद ही तैयार बैठे होते हैं, क्योंकि वे खुद ही अपने जीवन में छोटे-छोटे झूठ बोलते रहते हैं, लेकिन बड़े पैमाने पर फरेब का सहारा लेने पर शर्मिंदा महसूस करते हैं। उनके दिमाग में कभी नहीं आता कि बडा झूठ गढ़ें और इसीलिए इस पर यकीन नहीं करते कि कोई दूसरा सच को तोड़मरोड़ कर बड़ा झूठ पेश करने की हिमाकत करेगा। यदि कोई उनके झूठ को बेनकाब करने वाले तथ्य दिखाए तो भी वे शक करते हैं।

झूठ बोलने में उस्ताद लोग और झूठ बोलने की कला में साथ देने वाले यह जानते हैं कि झूठ अपने पीछे हमेशा सुबूत छोड़ जाता है और इसी सुबूत से झूठ पकड़ा भी जाता है, लेकिन जनभावनाओं की प्रकृति के चलते वे अपने झूठ के

सफल होने को लेकर काफी निश्चिंत होते हैं।

पॉलिटिक्स एंड द इंग्लिश लैंग्वेज के लेखक जॉर्ज ओरवेल का यह कथन गौर करने लायक है कि राजनीतिक भाषा इस तरह गढ़ी जाती है कि झूठ के सत्य होने का आभास कराए और प्रतिष्ठित लोगों को समाप्त कर दे। बड़े झूठ इस कदर अनोखे होते हैं कि वे अक्सर सुनने वाले को अचंभित कर देते हैं। अधिकतर लोग उसे समझ पाने की पर्याप्त क्षमता नहीं रखते। जब झूठ बड़ा हो तो औसत इंसान सोचने पर मजबूर हो जाता है कि कैसे कोई इतना खुलकर इस तरह की बात कहने का साहस कर सकता हैं? ऐसी स्थिति में आम लोग अजीब स्थिति के शिकार हो जाते हैं। वे मान लेते हैं कि जो व्यक्ति यह बात कह रहा है वह या तो ढोंगी-पागल होगा अथवा जरूर सच बोल रहा होगा। सोचिए जरा, यदि आप किसी कारणवश उसकी अवज्ञा करने अथवा यह स्वीकार करने की बात मन में लाना सही नहीं समझते कि वह इंसान निरा झूठा या ढोंगी है तो क्या होगा? यह स्वीकार करने के कारण कुछ भी हो सकते हैं, जैसे उसके प्रति आदर भाव, उसका करिश्मा अथवा उसके प्रति प्रतिबद्धता। ऐसी स्थिति में लोगों के पास एक ही विकल्प बचता है कि वह जो कह रहा है उसे सच मान लिया जाए, भले ही उसकी बात अविश्वसनीय लग रही हो। बड़े झूठ उन सवालों को शांत करने की कोशिश करते हैं, जो हमारे विवेक के कारण उत्पन्न होते हैं। यह कुछ वैसे ही होता है, जैसे किलोभर का वजन मापने के लिए बनाए गए तराजू पर टन भर सामान रख दिया जाए। जब ऐसा किया जाएगा तो तराजू सही वजन दिखाना बंद कर देगा और संभव है कि उसमें वजन की जगह शून्य दिखे। हिटलर ने सही कहा था कि छोटे झूठ की तुलना में बड़े झूठ पर अधिक विश्वास किया जाता है।

अब एक और बड़े झूठ पर नजर डालिए। 28 फरवरी 2002 को गुजरात में दंगे भड़क उठे। कहा जाता है कि एक हजार से ज्यादा मुसलामानों की हत्या हुई। हत्या चाहे हिंदू की हो या मुसलमान की, वह एक जघन्य अपराध है। इन दंगों के लिए पिछले 17 वर्षों से मोदी को जिम्मेदार माना जा रहा है। उन पर तरह-तरह के आक्षेप लगाए गए और यहां तक कि उन्हें मौत का सौदागर भी कहा गया। एक बड़े वर्ग ने कसम सी खा ली कि वह तथ्यों से कोई सरोकार नहीं रखेगा। इस वर्ग ने यह बताने की जहमत नहीं उठाई कि आखिर दंगा हुआ क्यों? गोधरा, साबरमती एक्सप्रेस, कारसेवक आदि सब नेपथ्य में चले गए। रह गए तो मोदी और दंगे के शिकार हुए मुसलमान। ऐसा बताने की कोशिश की गई जैसे गुजरात में पहली बार दंगा हुआ। एक झटके से सौ वर्षों के दंगों का इतिहास भुला दिया गया। यहां तक की 1969 के उन भीषण दंगों को भी जिसमें लगभग पांच हजार से ज्यादा लोग मारे गए थे। यह दंगा कांग्रेस के शासनकाल में हुआ था। इस प्रपंच के बीच गुजरात दंगों पर सर्वदलीय संसदीय समिति की रपट कूड़ेदान में चली गई। इस सर्वदलीय समिति का गठन मनमोहन सरकार ने किया था। समिति के मुताबिक गुजरात में मार्च 2002 के दंगों में 790 मुसलमान और 240 हिंदू मारे गए थे। इसके अलावा 100 से ज्यादा लोग पुलिस की गोली से और करीब 60 लोग रेल की बोगी में जलने से मरे थे। दंगे शुरू होने के 48 घंटे में ही सेना बुला ली गई थी, लेकिन यह सब बताने की फुरसत किसी के पास नहीं। हिटलर को कोई पसंद नहीं करता-मैं भी नहीं करता, लेकिन इसमें दो राय नहीं कि उसने झूठ की ताकत बताई थी और यह भी कि कैसे लाखों लोगों को मूर्ख बनाया जा सकता है।

(लेखक इंस्टीट्यूट ऑफ हेरिटेज रिसर्च एंड मैनेजमेंट, दिल्ली के संस्थापक हैं)

response@jagran.com

ऊर्जा

सुख

मानव मन जीवनपर्यंत सुख की खोज में जुटा रहता है। इस मृगतृष्णा के ऊहापोह में वह क्या कुछ नहीं कर गुजरता है। यदि हम अपने जीवन चक्र के समस्त कार्यकलापों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करें तो इस निष्कर्ष पर पहुंचेंगे कि हमने अब तक जो कुछ भी किया वह केवल सुख की लालसा के लिए ही किया। वास्तव में सुख और आनंद में अंतर है। हम सुख की प्राप्ति को ही आनंद की अनुभूति मान बैठते हैं जबकि यह यथार्थ नहीं। हम नित्य नवीन सुख की लालसा में स्वयं को उलझाते, झुठलाते चले जाते हैं। सुख सही अर्थ में वस्तु, पदार्थ, संग्रह, कामना सापेक्ष है। यह सदैव बाहरी उपलब्धियों पर निर्भर रहता है।

सुख यदि मिल जाए तो निश्चित नहीं कि सदा के लिए हो। उसकी समाप्ति के बाद फिर हम दूसरों को या अपने भाग्य को दोषी ठहराने लग जाते हैं। कोई वस्तु आती है, चली जाती है हम फिर कामना में लग जाते हैं। यह सिलसिला निरंतर चलता रहता है। हमें आभास होता है कि बहुत धनाढ्य व्यक्ति खूब सुखी होगा, सदैव आनंदित रहता होगा, यह सच नहीं है। न ही ऐसा मानना एक मध्यवर्गीय सोच का परिणाम है-जो बहुधा कहा जाता है। इसके कोई दो मत नहीं कि जो कुछ हमें चाहिए उसे पा लेने में सुख की अनुभूति होना स्वाभाविक है, लेकिन साथ-साथ एक डर अवश्य जुड़ा रहता है कि मेरी अपनी जीव या निर्जीव वस्तु छिन न जाए, खो न जाए और फिर यह चिंता कि आज जो प्राप्य है, उसका रखरखाव, भविष्य में संरक्षण निरंतर सुख को दुख की प्रवृत्तियों की ओर घसीटती चली जाती है। अच्छा हो हम सुख के संग्रह करने का प्रयास न कर, आनंद की असीम अनुभूति कर स्वयं को धन्य कर पाएं। आनंद जो बाह्य कारणों से मुक्त है, वह द्वैत और अद्वैत से परे है, जहां तेरा-मेरा नहीं, ऊंचा-नीचा नहीं। वो तो प्रकृति को निहारने से लेकर किसी भूखे को भोजन, बच्चे की किलकारी, दूसरों के प्रति निःस्वार्थ सेवा-भाव में निहित है। सुख-दुख तो आते जाते रहते हैं, आनंद हमें सदैव प्रफुल्लित रखने में सक्षम है, जो निर्मल है, निश्छल है। यह विषय तार्किक है, विरोधाभास में जकड़ा एक तथ्य है, लेकिन विचाराधीन अवश्य है। जहां सुखी जीवन की कामना अति आवश्यक है, वहीं हर परिस्थिति में आनंदित रहना मोक्ष का साधन।

छाया श्रीवास्तव

साइबर बुलिंग की चपेट में बच्चे

रेणु जैन

बच्चों पर बुलिंग का असर मारपीट से भी ज्यादा होता है। इससे पहुंची भावनात्मक चोट उन्हें अवसाद में धकेल देती है

साइबर बुलिंग यानी गंदी भाषा, तस्वीरों या धमकियों से इंटरनेट पर तंग करना। एक हालिया सर्वे के अनुसार देश के औसतन आधे स्कूली बच्चे इसकी चपेट में हैं। विभिन्न थानों और साइबर क्राइम सेल में दर्ज होने वाले मामलों की तादाद इसकी पुष्टि करती हैं। देश में इंटरनेट का इस्तेमाल करने वाले 40 करोड़ लोगों में बच्चों की संख्या करीब तीन करोड़ है। ब्रिटिश संस्था 'एंटी बुलिंग अलायंस' के ताजा सर्वे के मुताबिक आधे से अधिक बच्चे और युवा रोजाना इसके शिकार बन रहे हैं। साइबर बुलिंग बच्चों के मानसिक और शैक्षणिक विकास पर बुरा असर डाल रही है। इसके बावजूद अभिभावक और शिक्षक मानते हैं कि उनके पास इससे निपटने का कोई कारगर तरीका नहीं है।

साइबर बुलिंग ऑनलाइन किया जाने वाला ऐसा बर्ताव है जिसमें झूठी अफवाहें और गंदी तस्वीरों से बच्चों को यातना दी जाती है। ऑनलाइन गेम्स भी अक्सर बच्चों के साथ साइबर बुलिंग करते हैं। साइबर बुलिंग खतरनाक तब साबित होता है, जब बच्चे इससे जुड़ी बातें अपने माता-पिता को नहीं बताते। समाज में एकल परिवारों की बढ़ती तादाद भी इसकी एक वजह है। कामकाजी दंपती कम उम्र में ही बच्चों को स्मार्टफोन थमा देते हैं। उनके पास यह देखने का समय भी नहीं रहता है कि उनका बच्चा स्मार्टफोन और इंटरनेट के जरिये क्या कर रहा है। साइबर अपराधी इसका फायदा उठाते हैं।

साइबर बुलिंग से कई बच्चे अवसाद के शिकार भी हो रहे हैं। मनोचिकित्सकों के पास काफी संख्या में ऐसे बच्चों के अभिभावक पहुंच रहे हैं। बच्चे नेट-सर्फिंग तो करते हैं, लेकिन उसके नकारात्मक पहलू से अंजान होते हैं। इस मुसीबत में खासकर वही बच्चे पड़ते हैं जो अपने अभिभावकों से इस बात को शेयर नहीं करते। साइबर बुलिंग का असर बच्चों को मारने-पीटने से भी अधिक होता है, क्योंकि यह भावनात्मक रूप से चोट पहुंचाता है। यह भय और नफरत पैदा करता है। आजकल बहुत से युवा अपने निजी जीवन का एक-एक पल फेसबुक-ट्विटर पर लिखते हैं। समाजशास्त्रियों का मानना है कि ऐसा करने से आपके जीवन का हर पहलू दुनिया के सामने आ जाता है। इससे अनजान लोगों से संपर्क भी बढ़ जाता है। ऐसे में साइबर बुलिंग की आशंका बढ़ जाती है। विशेषज्ञों का कहना है कि इस समस्या पर अंकुश लगाने के लिए बच्चों के साथ ही अभिभावकों को भी जागरूक बनाना जरूरी है। कानून विशेषज्ञों की राय में 60 फीसद लोगों को साइबर अपराध की कोई खास जानकारी नहीं होती, नतीजतन ऐसे मामलों में पुलिस में शिकायत ही दर्ज नहीं कराई जाती।

ऑनलाइन दुनिया बहुत बड़ी है। आप बच्चों को सिखाएं कि वह किसी भी अनजान व्यक्ति से ऑनलाइन बात न करें। बच्चों को सिखाएं कि कौन सी जानकारी ऑनलाइन देनी चाहिए और कौन सी नहीं। साथ ही यह भी सुनिश्चित करें कि बच्चे वे वेबसाइट न देखें जो आप उन्हें नहीं देखने देना चाहते हैं। अपने बच्चों के साथ कुछ गुणवत्तायुक्त समय बिताएं। साथ खेलने से और काम करने से आप अपने बच्चों को अच्छी तरह समझ सकेंगे तथा यदि कोई समस्या हो तो उसका निदान अच्छे से कर पाएंगे।

(लेखिका स्वतंत्र टिप्पणीकार हैं)

मेलबाक्स

नंबरों की होड़ जरूरी?

नंबरों की होड़ रोकने की जरूरत शीर्षक लेख के तहत डॉ. संजीव राय ने देश के विभिन्न शिक्षा बोर्डों में विद्यार्थियों के आए शानदार अंकों पर नकारात्मक विचार रखते हुए सुझाव दिए कि परीक्षा में आए अच्छे अंकों को महत्व नहीं दिया जाना चाहिए, लेकिन लेखक से यह सवाल है कि अगर नंबरों की होड़ परीक्षाओं में रोक दी गई, तो क्या विद्यार्थी पढ़ाई के प्रति लापरवाही नहीं बरतेंगे? नंबरों की प्रतिस्पर्धा ही तो विद्यार्थियों को पढ़ाई के प्रति गंभीर होना सिखाती है, अगर मात्र पास होने ही योग्य नंबर लाने हों तो शायद पढ़ाई की तरफ गंभीरता दिखाने की जरूरत ही न हो? पिछले कुछ दिनों में जो विभिन्न परीक्षा बोर्डों के परिणामों में कुछ विद्यार्थियों के शानदार अंक आए, उन पर सवाल खड़े कर कुछ बुद्धिजीवी होनहार बच्चों की भावनाओं को भी ठेस पहुंचाने का काम कर रहे। न जाने शानदार अंक प्राप्त करने के लिए इन विद्यार्थियों ने कितनी मेहनत की हो। जो ऐसे होनहार विद्यार्थियो पर सवाल खड़े कर रहे, उनसे सवाल की सभी विद्यार्थियों के परीक्षा में शत प्रतिशत अंक या बहुत कम क्यों आते, शायद इसलिए क्योंकि सभी पढ़ाई की तरफ ध्यान नहीं देते। अगर परीक्षा में अच्छे अंकों से विद्यार्थियों की काबिलयत का अंदाजा नहीं लगाया जा सकता तो फिर कैसे लगाया जाए?

राजेश कुमार चौहान, जालंधर

संयुक्त परिवार का महत्व

विश्व परिवार दिवस समस्त संसार के बिखरते परिवारों और टूटते रिश्तों को जोड़कर प्रेम के साथ मिलकर रहने की प्रेरणा देता है। आज दौड़भाग की जिंदगी में मानव धनार्जन के उद्देश्य से सभी रिश्तों की बलि चढ़ा चुका है। एकल परिवारों में रहकर गांव व अपने परिवार से दूर वह धन कमाने को ही अपना जीवन समझने लगा है। संयुक्त परिवार में बच्चों में संस्कारों के साथ-साथ एक दूसरे का सहयोग करने की प्रवृत्ति होती थी। आज यह बहुत कम देखने को मिलती है। बच्चों के अंदर हिंसात्मकता तथा अन्य दोष पनप रहे हैं जिसका कारण एकल परिवारों में बच्चों का अकेलापन है। बड़े बुजुर्गों के पास बैठने तथा उनके साथ रहने का अवसर नहीं मिलने से बच्चे मोबाइल, ऑनलाइन गेम्स तथा अन्य गलत संगत में फंसते चले जाते हैं जिनका परिणाम अत्यंत भयंकर होता है। परिवार समाज की सबसे मजबूत और महत्वपूर्ण इकाई है। मानसिक रोगी बनने का अधिकतर मुख्य कारण अकेलापन ही होता है। संयुक्त परिवारों में एक-दूसरे के साथ सुख-दुख में विचारों का आदान-प्रदान करके मन को शांति मिलती है और समस्याओं का भी निदान हो जाता है। आज बहुत जल्दी परिवार टूट रहे हैं जिनका कारण हम स्वयं ही हैं।

आचार्य राम कुमार बघेल शास्त्री, पलवल

योग्य बनना जरूरी

आज दलित, वंचित वर्ग के लाचार परिदृश्य को आसानी से खत्म कर पाना इतना आसान नहीं है। लेकिन महात्मा गांधी और डाक्टर आंबेडकर ने जो सपना इन वर्गों के लिए संजोया था उसके सफल न हो पाने का जिम्मेदार सिर्फ राजनीति को नहीं कहा जा सकता। क्योंकि राजनीति ने ही तब से लेकर अब तक कई योजनाएं बनाकर इनके लिए उन्नति का मार्ग प्रशस्त कराया है, लेकिन समस्या यह है कि इस वर्ग में ही इतना अंतर्विरोध है कि इस वर्ग के आर्थिक रूप से संपन्न लोग अपने निचले तबके के लोगों को मौका देना ही नहीं चाहते हैं। शैक्षणिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विविधता का सबसे बड़ा कारण इस वर्ग के आरक्षण में क्रीमी लेयर की अवधारणा को लागू न करना है। इनके लिए अवसरों की आज कोई कमी नहीं है। बस जरूरत है खुद को उस योग्य बनाने की।

पिंटू सक्सेना, दिल्ली

सत्ता की यह कैसी लालसा

अगर मोदी देश के लिए इतना बड़ा खतरा हैं तो विपक्ष मिलकर उनका सामना क्यों नहीं करता? उत्तर प्रदेश में विपक्षी गठबंधन में कांग्रेस क्यों शामिल नहीं हुई? या फिर सपा-बसपा ने उसे शामिल क्यों नही किया? दिल्ली में कांग्रेस और आप मिलकर चुनाव क्यों नहीं लड़े? सवाल अगर लोकतंत्र को बचाने का था तो भाजपा विरोधी-दल एक मंच पर क्यों नहीं आए? जैसे 1977 के चुनाव में सभी विपक्षी दल कांग्रेस को हराने के लिए एक साथ आ गए थे। लोकतंत्र में हार-जीत एक सिक्के के दो पहलू हैं। भाजपा को भी कई चुनावों में हार का सामना करना पड़ा है और कांग्रेस को भी। जो गठबंधन सिर्फ सता पाने के लिए बनते हैं, उनका हश्र बुरा होता है।

युधिष्ठिर लाल कक्कड़, गुरुग्राम

इस स्तंभ में किसी भी विषय पर राय व्यक्त करने अथवा दैनिक जागरण के राष्ट्रीय संस्करण पर प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए पाठकगण सादर आमंत्रित हैं। आप हमें पत्र भेजने के साथ ई-मेल भी कर सकते हैं।

अपने पत्र इस पते पर भेजें :
दैनिक जागरण, राष्ट्रीय संस्करण,
डी-210-211, सेक्टर-63, नोएडा
ई-मेल: mailbox@jagran.com

संस्थापक-स्व. पूर्णचन्द्र गुप्त. पूर्व प्रधान संपादक-स्व.नरेन्द्र मोहन. संपादकीय निदेशक-महेन्द्र मोहन गुप्त. प्रधान संपादक-संजय गुप्त, जागरण प्रकाशन लि. के लिए: नीतेन्द्र श्रीवास्तव द्वारा 501, आई.एन.एस. बिल्डिंग,रफी मार्ग, नई दिल्ली से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा डी-210, 211, सेक्टर-63 नोएडा से मुद्रित, संपादक (राष्ट्रीय संस्करण) -विष्णु प्रकाश त्रिपाठी*
दूरभाष : नई दिल्ली कार्यालय : 23359961-62, नोएडा कार्यालय : 0120-3915800, E-mail: delhi@nda.jagran.com, R.N.I. No. DELHIN/2017/74721 * इस अंक में प्रकाशित समस्त समाचारों के चयन एवं संपादन हेतु पी.आर.बी. एक्ट के अंतर्गत उत्तरदायी। समस्त विवाद दिल्ली न्यायालय के अधीन ही होंगे। हवाई शुल्क अतिरिक्त।